

शिक्षा के सामाजशास्त्रीय सिद्धांत-II*

फंक्शनलिज़्म : प्रयोग और समालोचना

अमन मदान

अनुवाद: योगेन्द्र दत्त

फंक्शनलिज़्म का प्रश्न यह होता है कि समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए शिक्षा क्या भूमिका अदा कर सकती है। यानी समाज में इसका क्या फंक्शन होता है। शिक्षा का फंक्शनलिस्ट सिद्धांत बहुत आकर्षक दिखाई देता है क्योंकि यह सिद्धांत किसी खास समाज में मौजूद स्कूलों और कॉलेजों से लोगों की अपेक्षाओं को प्रतिबिंबित करता है। फंक्शनलिज़्म का केंद्रीय विचार यह रहा है कि शिक्षा इस समाज को कायम रखने और इसे उन्नति के पथ पर ले जाने में क्या योगदान दे सकती है। यह बात उन लोगों को बहुत मुफीद मालूम पड़ती है जो कहते हैं हमारा समाज आज ध्वंस के कगार पर पहुंच गया है। मसलन, भ्रष्टाचार के कारण या सामुदायिक वैमनस्य के कारण। उनकी नजर में शिक्षा ही परिवार के प्रति निष्ठा के स्थान पर व्यवसाय या राष्ट्र के प्रति निष्ठा को स्थापित कर सकती है। अगर किसी को घूसखोरी जैसे लालच से बचना है और एक बड़े उद्देश्य के लिए काम करना है तो उसकी निष्ठा में यह बदलाव अनिवार्य है। फंक्शनलिस्ट सोच उन लोगों को सबसे ज्यादा आकर्षित करती है जिनका मानना है कि समुदाय के बीच बढ़ते अविश्वास से यह देश टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। उनकी राय में शिक्षा ही सारे समुदायों को एकबद्ध कर सकती है और सार्वभौमिकता की संस्कृति पैदा कर सकती है जिसमें लोग सामाजिक विभाजनों और सीमाओं से ऊपर उठकर एक-दूसरे से जुड़ जाएंगे।

फंक्शनलिस्टों का मानना है कि आज के स्कूलों में प्रचलित बहुत सारे व्यवहार और कायदे-कानून सामूहिक पहचानों की बजाय व्यक्तिगत पहचानों के जरिए सार्वभौमिकता और उपलब्धि के इन्हीं गहरे मूल्यों को सींचने के लिए बनाए गए हैं। स्कूल में इम्तेहान लेने वाले अध्यापकों के पास भले ही कोई व्यापक सामाजिक लक्ष्य न हो मगर परीक्षाओं की प्रच्छन्न पाठ्यचर्या असल में उन्हीं मूल्यों को प्रोत्साहन देती है क्योंकि इन परीक्षाओं में कठिन परिश्रम ही मायने रखता है और इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि आप किस समुदाय से आते हैं। फंक्शनलिस्ट सामाजिक सिद्धांत का तर्क है कि इम्तेहान भी परोक्ष रूप से एक ऐसे समाज के निर्माण में योगदान देते हैं जो ज्यादा स्थिर हो सकता है और आज के हालात में फल-फूल सकता है।

जब सामाजिक असमानता में बहुत तीखा इजाफा होता है तो समाज में भी चौतरफा असंतोष पैदा होने लगता है और हिंसा व बिखराव की आशंका बढ़ जाती है। यहां शिक्षा के फंक्शनलिस्ट समाजशास्त्रीय सिद्धांत का प्रश्न ये है कि अगर हम एक ऐसा समाज रचना चाहते हैं जो एकबद्धता और अधिकाधिक न्याय पर जोर दे तो इसके लिए हमें किस तरह की शिक्षा व्यवस्था विकसित करनी चाहिए। इस तरह के सिद्धांत ये जवाब दे सकते हैं कि जो स्कूल गरीबों को अधिक अवसर प्रदान करें, वे सामाजिक असमानता के तनाव को कम

* इस लेख का पहला भाग आप शिक्षा विमर्श के मई-जून 2017 अंक में पढ़ चुके हैं। यहां प्रस्तुत है अगली कड़ी।

कर सकते हैं। इस तरह के स्कूल समान अवसरों की संस्कृति को बढ़ावा देते हैं और लोगों में यह एहसास पैदा करते हैं कि उनके साथ अन्याय नहीं हो रहा है। तब यह आशा पैदा होती है कि कठोर परिश्रम करके कोई भी ऊपर उठ सकता है और सामाजिक असमानताएं कठोर और दमनकारी प्रतीत नहीं होतीं।

फंक्शनलिज़्म हमें विभिन्न प्रकार के समाजों में आने वाली समस्याओं के समाधानों के बारे में सोचने के लिए भी मदद देता है। मान लीजिए कि आप एक ऐसे देश में रहते हैं कि जहां बहुत सारे अलग-अलग समुदाय और भाषाई समूह रहते हैं। कुछ भाषाई समूह ऐसे इलाकों में रहते हैं जहां पानी और बिजली जैसे संसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। कुछ दूसरे भाषाई समूह ऐसे इलाकों में रहते हैं जहां संसाधन सीमित हैं और सारे लोगों के पास बहुत सारी ऐसी चीजें और सेवाएं भी नहीं हैं जो कि संसाधनों की प्रचुरता वाले इलाके के समुदायों के पास सहज उपलब्ध हैं। ऐसा भी नहीं लगता कि गरीब इलाकों के अभाव जल्दी ही दूर हो जाएंगे। ऐसे में इन इलाकों के बहुत सारे नौजवान काम-धंधे की तलाश में संसाधन समृद्ध इलाकों की तरफ खिंचने लगे हैं। वहां उन्हें ऐसी नौकरियां मिली हैं जो आकर्षक नहीं हैं और जिनमें आमदनी बहुत कम है। वहां के स्थानीय कामगार उन्हें एक प्रतिद्वंद्वी के रूप में देखते हैं और उन पर यदा-कदा हमले भी करते हैं। उस इलाके के अमीर लोग बाहर से आए इन नौजवानों को इंसान के बराबर भी नहीं मानते, उनसे कूड़े-करकट जैसा बर्ताव करते हैं। तनाव लगातार पनप रहा है। फलस्वरूप, इन्हीं क्षेत्रीय पहचानों पर केंद्रित राजनीतिक समूह अस्तित्व में आने लगे हैं और उनके बीच सड़कों पर मारपीट की घटनाएं भी होने लगी हैं।

ऐसी स्थिति में फंक्शनलिस्ट समाज वैज्ञानिक कहेगा कि यहां फंक्शनलिस्ट धारा के कई बुनियादी विचारों के आधार पर हम एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था तैयार कर सकते हैं जो इस स्थिति को आंशिक रूप से शांत कर सकती है। वे कहेंगे कि सार्वभौमिकता का सिद्धांत, सामाजिक भूमिकाओं के बंटवारे और सामाजिक एकजुटता के साधन के रूप में शिक्षा हमें सही समाधानों की ओर ले जा सकती है। जो कम संसाधनों वाले इलाकों के लोगों को भी अवसर प्रदान करे, एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की रचना से सबको समान अवसर प्रदान करने वाली संस्कृति पैदा होगी। इससे एक ऐसी संस्कृति पैदा होगी जिसमें सभी को समान माना जाएगा। यह शिक्षा सामाजिक एकजुटता को भी बढ़ावा देगी। इस प्रकार, देश एक ऐसी स्थिति से बच निकलने में कामयाब हो जाएगा जहां कुछ समूहों को दूसरों से कमतर माना जा रहा था। यह सामाजिक भूमिकाओं के बंटवारे की भी एक ज्यादा कुशल और प्रभावी व्यवस्था को जन्म देगी। गरीब इलाकों के प्रतिभाशाली व्यक्ति समृद्ध क्षेत्र के ऊंचे पदों और हैसियतों तक पहुंचने लगेंगे। अब उन्हें सिर्फ शारीरिक श्रम वाली नौकरियों से बंध कर नहीं रहना पड़ेगा। यह सारे देश के लिए अच्छा होगा क्योंकि प्रतिभाशाली लोगों की आपूर्ति बढ़ जाएगी। देश के सभी भागों के लोगों को एक-दूसरे के प्रति लगाव महसूस होगा और वे एक-दूसरे के साथ ज्यादा अच्छी तरह रह पाएंगे। इस प्रकार, फंक्शनलिस्ट सिद्धांतकारों की नजर में शिक्षा विकासशील देशों की खुशहाली में एक अहम भूमिका अदा कर सकती है।

फंक्शनलिस्ट दृष्टिकोण निश्चय ही आकर्षक दिखायी पड़ता है मगर उसको एक एहतियात की नजर से भी देखना जरूरी है क्योंकि उसका यह आकर्षण हमें उसकी खामियों के प्रति अंधा भी बना सकता है। खैर, इन सिद्धांतों की आलोचना पर जाने से पहले हमें फंक्शनलिज़्म के एक व्यापक उपयोग पर गौर करना चाहिए। यह उपयोग मानव पूंजी सिद्धांत में पैबस्त है।

मानव पूंजी एवं तकनीकी फंक्शनलिज़्म

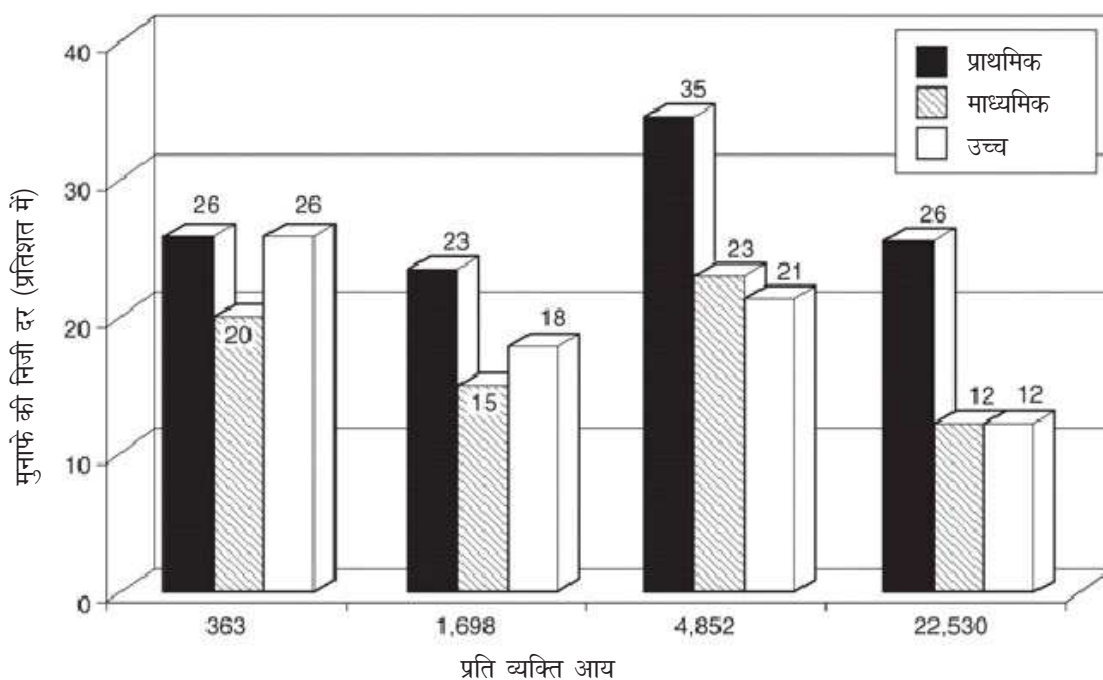
तकनीकी फंक्शनलिज़्म का संबंध समाज की तकनीकी जरूरतों को पूरा करने से है। यह धारणा बहुत पुरानी है कि किसी देश की सच्ची संपदा उसके निवासी ही होते हैं। एडम स्मिथ ने अठारहवीं शताब्दी में मानव श्रम को उत्पादन का एक महत्वपूर्ण कारक घोषित कर दिया था। दूसरे विश्व युद्ध के बाद जर्मनी के फटाफट पुनर्नवीकरण के लिए भी लोगों के ज्ञान और संस्कृति को ही मुख्य कुंजी माना गया था। विश्व युद्ध ने तकरीबन पूरे जर्मनी को खंडहरों में तब्दील कर दिया था। इसके कारखाने बमों से तबाह हो चुके थे। लोगों के पास भोजन व पीने के साफ पानी जैसी मूलभूत

सुविधाएं भी नहीं थीं। अमेरिका, सोवियत संघ और संयुक्त राष्ट्र की मिली-जुली कोशिशों से जर्मनी फिर से अपने पैरों पर खड़ा हुआ। उन्होंने इस मद में विशाल धनराशि खर्च की। सबसे महत्वपूर्ण बात थी यहां के लोगों की संस्कृति। भले ही वे लोग पराजित हुए हों मगर उनके पास शिक्षा की एक जबर्दस्त संस्कृति थी और वे संगठित व व्यवस्थित श्रम को महत्व देते थे। वे अपने संसाधनों का सर्वश्रेष्ठ संभव सदुपयोग करने में सक्षम थे और लिहाजा दो दशकों के भीतर जर्मनी एक बार फिर आर्थिक शक्ति बन गया था। यह एक देश के लोगों की ज्ञान व संस्कृति ही थी जिसने इस बात को निर्णायक तौर पर तय कर दिया था कि यह देश फिर से उठकर समृद्धि के मार्ग पर चल पाएगा या नहीं। किसी देश को समृद्ध बनाने के लिए वहां के लोगों का तकनीकी ज्ञान खासतौर से आवश्यक होता है। पुनः, यह भी एक प्रकार का फंक्शनलिज़्म ही था कि समाज की कुछ ऐसी आवश्यकताएं थीं जिनको शिक्षा पूरा कर सकती थी। इस मद में तकनीकी ज्ञान तथा उन्नति की तकनीकी आवश्यकताओं पर ज्यादा जोर दिया गया और फलस्वरूप इसे तकनीकी फंक्शनलिज़्म का नाम दिया गया।

फंक्शनलिज़्म की शेष धाराओं की भांति इस धारा की भी एक सरलीकृत व्याख्या की जा सकती है। उदाहरण के लिए, इसका एक मतलब ये निकाला जा सकता है कि बड़े उद्योगों को जिन क्षमताओं की आवश्यकता थी, उन्हीं को समाज के लिए आवश्यक मान लिया गया था। या तकनीकी-फंक्शनलिज़्म का सहारा लेकर ज्यादा सूक्ष्म धरातल पर ये पूछा जा सकता है कि किसी समाज की खुशहाली के लिए किस तरह का तकनीकी ज्ञान वास्तव में उपयोगी होगा। उदाहरण के लिए, क्या किसी देश को कृत्रिम कीटनाशक बनाने के ज्ञान को बढ़ावा देना चाहिए या ऑर्गेनिक फार्मिंग यानी जैविक खेती के ज्ञान को बढ़ावा देना चाहिए? जाहिर है कि सभी प्रकार का तकनीकी ज्ञान समान रूप से वांछनीय नहीं हो सकता।

साठ के दशक में ये सोच काफी लोकप्रिय हुई कि मानव पूंजी में निवेश करना सबसे महत्वपूर्ण चीज है। गैरी बेकर और थ्योडोर डब्ल्यू शुल्ज़ जैसे अर्थशास्त्रियों ने इस दिशा में पथप्रदर्शक काम किया था। उनका कहना था कि शिक्षा के क्षेत्र में होने वाला निवेश भी अर्थव्यवस्था के दूसरे हिस्सों में होने वाले निवेश के समकक्ष होता है। जिस तरह कोई देश अपने कारखानों के निर्माण में निवेश करता है, उन्नत मशीनरी खरीदता है, बड़े-बड़े बिजलीघर बनाता है, उसी तरह उसे शिक्षा में भी निवेश करना चाहिए। जिस तरह फैक्ट्रियों में निवेश से मुनाफा मिलता है उसी तरह शिक्षा से भी मुनाफा मिलता है। मान लीजिए कि एक व्यवसायी कारखाना खोलना चाहता है। वह कारखाना बनाने के लिए दस करोड़ रुपये का कर्जा लेता है और उसे इस पर एक करोड़ यानी 10 प्रतिशत का मुनाफा प्रतिवर्ष मिलता है। इसी प्रकार शिक्षा के अर्थशास्त्री भी शिक्षा पर होने वाले मुनाफे की गणना करने लगे। इन गणनाओं में यह हिसाब लगाया गया कि कोई व्यक्ति शिक्षा पर जो निवेश करता है उससे उसे कितना लाभ होता है। इस क्रम में एक तरफ निजी लाभों का उल्लेख किया गया। ये निजी लाभ किसी खास तरह की स्कूली शिक्षा या कालेज की शिक्षा से व्यक्तिगत आय में होने वाले इजाफे के रूप में देखे गए। इन निजी मुनाफे की दर उस व्यक्ति द्वारा वहन की गई निजी लागतों पर निजी मुनाफे के अनुपात के रूप में तय की गई। इसके अलावा सामाजिक लाभों का भी उल्लेख किया गया। शिक्षा की बढ़ती एक देश के उत्पादन और सेवाओं के मूल्य व संपदा में वृद्धि को सामाजिक मुनाफे की श्रेणी में रखा गया। इन लाभों का हिसाब लगाना कहीं ज्यादा मुश्किल होता है क्योंकि सामाजिक लाभों की गणना काफी कठिन हो जाती है। उदाहरण के लिए, अगर समाज में महिलाओं को ज्यादा सम्मान दिया जा रहा है, तो इस मद में शिक्षा के योगदान को मापना बहुत मुश्किल होगा।

जार्ज सेकेरोपोलस किसी देश में शिक्षा से मिलने वाले लाभों की गणना का तरीका विकसित करने वाले चंद लोगों में से एक थे। उदाहरण के लिए, उन्होंने हिसाब लगा कर बताया कि प्राथमिक शिक्षा से निजी मुनाफे की सबसे ऊंची दर मध्य आय देशों में दिखाई पड़ती है (सेकेरोपोलस 2004)। उच्च शिक्षा से निजी मुनाफे की सबसे ऊंची दर सबसे निर्धन देशों में पाई गई।



अलग-अलग प्रति व्यक्ति आय वाले देशों में शिक्षा पर निजी मुनाफे की दर (सेकरोपोलस, 2004)

लाभ दर का अनुमान और शिक्षा से लोगों को क्यों लाभ होता है, इस बात की व्याख्या अभी भी मुश्किल और विवादास्पद विषय है। फिर भी, इस तरह की गणनाओं से ऐसे लोगों के बीच शिक्षा को काफी लोकप्रियता मिली है जो गरीबी को दूर करने और गरीब देशों की आय बढ़ाने के रास्ते ढूंढना चाहते हैं। सबको जमीन देना तो मुश्किल है मगर आप सबको शिक्षा जरूर दे सकते हैं। आज हमारे देश में भी कौशल शिक्षा पर जिस तरह जोर दिया जा रहा है, वह तकनीकी-फंक्शनलिज्म की धारा का ही घोटक है। लोग कहने लगे हैं कि हमारे देश को कौशलों की आवश्यकता है और हमारी शिक्षा व्यवस्था को ऐसे कौशल मुहैया कराने में सक्षम होना चाहिए। इससे चौतरफा खुशहाली पैदा होगी। मगर, फंक्शनलिज्म के आलोचक हमें इस तरह के दावों के बारे में एहतियात बरतने की नसीहत देते हैं।

शिक्षा का स्तर	निजी मुनाफा दर
प्राथमिक	5.5 प्रतिशत
उच्च प्राथमिक	6.2 प्रतिशत
माध्यमिक	11.4 प्रतिशत
उच्च माध्यमिक	12.2 प्रतिशत
स्नातक स्तरीय शिक्षा	15.9 प्रतिशत

(तुषार 2011)

फंक्शनलिज्म और तकनीकी फंक्शनलिज्म की समालोचना

तकनीकी फंक्शनलिज्म और कौशल आधारित शिक्षा की सरलीकृत व्याख्या हमें जल्दी ही संकट में फंसा देती है। कल्पना कीजिए कि एक गांव में सिर्फ एक दर्जी है। चूंकि वह अकेला है इसलिए पूरे गांव में उसके काम की मांग है। वह पूरे गांव की जरूरतों को पूरी नहीं कर पा रहा है। इस तरह के गांवों में टेलरिंग का काम सिखाने का कार्यक्रम चला रहे शैक्षिक संगठनों को भी जल्दी ही एक कड़वा सबक मिला है। उन्होंने देखा है कि अगर वे बहुत सारे लोगों को सिलाई कढ़ाई सिखा देते हैं तो जल्दी ही गांव में जरूरत से ज्यादा दर्जी हो जाते हैं। नतीजा, सबको पर्याप्त मात्रा

में काम नहीं मिल पाता। उनमें सबसे ज्यादा परेशान पहला वाला अकेला दर्जी है क्योंकि अब उसका धंधा चौपट हो चुका है। इससे पता चलता है कि हमें एक समाज की तकनीकी जरूरतों का आकलन करने में बहुत एहतियात बरतनी चाहिए। किसी भी समय एक तरह की तकनीकी शिक्षा के मुकाबले दूसरी तरह की तकनीकी शिक्षा ज्यादा बेहतर हो सकती है। और किसी देश की तरक्की के लिए सिर्फ तकनीकी ज्ञान ही काफी नहीं हो सकता। उसे मशीनें खरीदने और भौतिक संपदाओं का निर्माण करने के लिए पूंजी की भी जरूरत होती है। सिर्फ ये कहना काफी नहीं होगा कि तकनीक की शिक्षा दे देना ही किसी विकासशील देश की सारी समस्याओं का हल हो सकता है। जाहिर है कि कुछ और भी चाहिए होता है।

पिछले कुछ दशकों के दौरान बहुत सारे बुद्धिजीवियों ने फंक्शनलिज़्म की कमियां गिनाई हैं और फलस्वरूप आज हमारे पास इसकी एक ज्यादा मुकम्मल समझ मौजूद है। मेल्विन ट्यूमिन (1953) ने फंक्शनलिज़्म की जो आलोचना की थी वह आज सर्वविदित है। उन्होंने दो बहुत प्रख्यात फंक्शनलिस्ट समाजशास्त्रियों - किंगले डेविस और विल्बर्ट ई मूर (1945) द्वारा दिए गए मूल तर्कों को ही आगे बढ़ाया था। डेविस और मूर ने कहा था कि शिक्षा सही नौकरी के लिए सही लोगों को चुनने में मदद देती है। इस सिद्धांत के अनुसार, भारत में होने वाली विभिन्न प्रकार की प्रवेश परीक्षाएं इंजीनियरों और डॉक्टरों के व्यवसायों के लिए सर्वश्रेष्ठ लोगों को चुनने का काम करती हैं। डेविस और मूर ने कहा कि सबसे ज्यादा तनखाह वाली नौकरियां सबसे कठिन और बेमज़ा होती हैं और यही कारण हैं कि इन नौकरियों के लिए इतनी ज्यादा तनखाह मिलती है। उन्होंने कहा कि अगर आप लोगों को ऐसी कठिन नौकरियों के लिए प्रेरित करना चाहते हैं तो उन्हें ये लालच देना पड़ेगा। इसका मतलब है कि शिक्षा व्यवस्था (क) सर्वश्रेष्ठ संभव ढंग से लोगों का चयन करती है और (ख) उन्हें उनकी चेष्टाओं के बदले में पुरस्कृत करती है।

मेल्विन ट्यूमिन ने इन दोनों फंक्शनलिस्ट दावों पर बहुत सख्त ऐतराज उठाया। उन्होंने कहा कि शिक्षा व्यवस्था प्रायः किसी व्यवसाय के लिए सर्वश्रेष्ठ लोगों को नहीं चुनती। इसकी बजाय, वह उन लोगों को चुनती है जो इम्तेहान पास करने में माहिर होते हैं। हमारे देश में आईआईटी अध्यापकों की तरफ से बार-बार ये शिकायत सुनाई पड़ती है कि कोचिंग इंडस्ट्री और प्रवेश परीक्षाओं के स्वरूप के कारण आज ऐसे विद्यार्थी प्रवेश परीक्षा ज्यादा पास करने लगे हैं जो सर्वश्रेष्ठ इंजीनियर नहीं बन सकते। मेरे एक मित्र, जो उस वक्त एक आईआईटी में मैकेनिकल इंजीनियरिंग विभाग के अध्यक्ष थे, उन्होंने बड़ी कड़वाहट के साथ मुझे बताया था कि उनके पास 32 बच्चों का बैच है और उनमें से एक भी मैकेनिकल इंजीनियर नहीं बनेगा। ये सारे प्रोग्रामर बनेंगे और आईटी उद्योग में जाकर खप जाएंगे। जाहिर है कि प्रवेश परीक्षाओं में कुछ गंभीर खामी जरूर है। यह परीक्षा ऐसे नौजवानों का चयन नहीं कर पा रही है जो बढ़िया मैकेनिकल इंजीनियर बनना चाहते हैं। फंक्शनलिस्ट सैद्धांतिकी का योगदान ये है कि इसने हमें ये बताया है कि शिक्षा व्यवस्था को सही नौकरी के लिए सही उम्मीदवार का चयन करना चाहिए। मगर ट्यूमिन ने आगाह किया कि ये मान लेना नादानानी होगी कि शिक्षा व्यवस्था वाकई हमेशा ऐसा कर पाती है।

डेविस और मूर ने जो दूसरी बात कही वो ये थी कि शिक्षा व्यवस्था कठिन नौकरियों के लिए सबसे अधिक पारिश्रमिक की व्यवस्था करती है। इसी वजह से सालों तक दिन-रात मानव शरीर से संबंधित सूचनाओं का अध्ययन करने के बाद डॉक्टर को उसके शेष जीवन में संपदा और सम्मान का पुरस्कार मिलता है। ट्यूमिन ने इस बात पर भी ऐतराज उठाया। उन्होंने तथा फंक्शनलिज़्म के दूसरे आलोचकों ने कहा कि समाज में बहुत सारे ऐसे जटिल व्यवसाय हैं जिनके लिए इतने ही या इससे भी ज्यादा कठोर परिश्रम की आवश्यकता होती है मगर वैसे काम करने वाले लोगों को इतना पारिश्रमिक नहीं मिलता। उदाहरण के लिए, एक बढ़िया अध्यापक होना बहुत कठिन और चुनौती भरा काम है। इसके लिए आपके पास जबर्दस्त ज्ञान और समझ होनी चाहिए। आपको ये भी पता होना चाहिए कि अलग-अलग बच्चों से कैसे निपटा जाता है ताकि आप उन्हें प्रेरित कर सकें और उन्हें आगे बढ़ने के लिए तैयार करते रहें। आपको एक खास तरह का व्यक्ति बनना पड़ता है। आपके पास सूझबूझ और नौजवानों के दिमाग को समझने की काबीलियत चाहिए होती है। ये कहना सही नहीं होगा कि एक अध्यापक बनने के लिए डॉक्टर बनने से कम प्रयास की आवश्यकता होती है। ये कहने का कोई खास मतलब नहीं है कि समाज को इनमें से एक की जरूरत ज्यादा है और दूसरे की कम

है। ऐसे में ये कैसे समझाया जाए कि अध्यापकों को डॉक्टरों से इतना कम पारिश्रमिक क्यों मिलता है? इसी तरह और भी ऐसे कई व्यवसाय हैं जो समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं मगर उनमें बहुत कम तनखाह मिलती है जबकि कई ऐसे व्यवसायों में ज्यादा पैसा मिलता है जो इतने महत्वपूर्ण दिखाई नहीं देते। उदाहरण के लिए, नालियां साफ करना समाज के लिए आवश्यक है। यह बहुत ही बेमजा और कठिन काम भी है। मगर, यदि कोई व्यक्ति कोका कोला और पेप्सी जैसी कार्बोनेटेड ड्रिंक्स के लिए इशतहार तैयार करता है तो उसे नालियां साफ करने वाले के मुकाबले बहुत ज्यादा तनखाह मिलेगी। ऐसे में ये कहना मुश्किल है कि जो व्यक्ति मीठे और अलग-अलग जायके वाला शर्बत तैयार कर रहा है उसका योगदान पूरी आबादी को स्वस्थ रखने में जुटे व्यक्ति से कहीं ज्यादा होगा। यानी यह कहने में कुछ तो गड़बड़ जरूर है कि जो शिक्षा व्यवस्था समुदाय को साफ-सुथरा रखने वाले व्यक्ति के मुकाबले एडवर्टाइज़र को ज्यादा तनखाह दिलाती है, वह व्यवस्था फंक्शनल जरूरतों को पूरा करने में सक्षम है।

बाद के कुछ फंक्शनलिस्टों ने इसी को समझने का थोड़ा और बेहतर ढंग भी सुझाया है। उदाहरण के लिए, रॉबर्ट मर्टन (1968) ने शिक्षा सहित विभिन्न सामाजिक संस्थाओं की भूमिका को समझने का एक ज्यादा परिष्कृत तरीका सुझाया है। उनके अनुसार, ये लाजिमी नहीं है कि शिक्षा जैसी कोई संस्था जिस तरह काम कर रही है, वह वाकई समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए आवश्यक हो। कोई संस्थान सक्रिय हो सकता है, निष्क्रिय हो सकता है और संभव है कि समाज की जरूरतों के विपरीत ढंग से काम कर रहा हो। शिक्षा व्यवस्था की वास्तविक भूमिकाओं का सवाल शोध का प्रश्न है और इसके बारे में पहले से कोई धारणा बना कर नहीं चलना चाहिए। स्कूल कैसे काम करते हैं इसके निहितार्थों का अध्ययन करके ही हम इस बात का निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वे अधिक सामाजिक एकीकरण की तरफ जा रहे हैं या इससे विपरीत दिशा में यानी समाज में तनाव पैदा करने की ओर बढ़ रहे हैं। फंक्शनलिस्ट सिद्धांत का महत्व ये था कि इसने हमें ये देखने में मदद दी कि हमें क्या करना चाहिए। उदाहरण के लिए, यह सिद्धांत हमें बता सकता है कि लोगों का चयन लोगों की प्रतिभाओं और समाज की जरूरतों के अनुरूप होना चाहिए। मगर, यह मान लेना गलत है कि किसी स्कूल या समुदाय में ऐसा अवश्य ही हो रहा होगा।

भारत और शेष दुनिया की शिक्षा व्यवस्थाओं में क्या हो रहा है, इसकी कई ऐसी व्याख्याएं दी जा सकती हैं जो इस निष्कर्ष पर खत्म नहीं होती कि स्कूल जो कुछ भी करते हैं वही समाज के लिए सबसे अनुकूल होता है। उदाहरण के लिए, हो सकता है अध्यापकों की आय इससे तय न हो कि वे समाज के लिए कितना योगदान देते हैं बल्कि उनके इलाके की राजनीति से तय हो रही हो। अगर स्कूल प्रशासक अच्छे अध्यापन को महत्व नहीं देते तो वे ऐसे किसी भी व्यक्ति को नौकरी पर रख लेंगे जिसके पास पढ़ाने की सबसे शुरुआती डिग्री हो (या चाहे वह भी न हो)। बेराजगारी से भरी दुनिया में नौकरियों के लिए, किसी भी तरह की नौकरी के लिए लोग कतार लगाए मिल जाएंगे। जब आपके सामने नौकरी की तलाश में बहुत सारे उम्मीदवार मौजूद हों तो स्कूल प्रशासकों के लिए अध्यापकों की तनखाह घटाकर भी अध्यापक ढूंढने में कोई मुश्किल नहीं होगी। यही कारण है कि अध्यापकों की तनखाहें अकसर कम होती हैं। इसलिए नहीं कि डॉक्टर के मुकाबले अध्यापक समाज के लिए कोई कम आवश्यक भूमिका अदा करता है। कार्बोनेटेड पानी के एडवर्टाइज़र असंतोष से पीड़ित लोगों को संतोष का सपना बेचते रहेंगे। हो सकता है वे धूर्त विज्ञापनों और प्रचार के जरिए लोगों की ख्वाहिशों से खिलवाड़ करें और भोले-भाले ग्राहकों से बेहिसाब मुनाफा कमा लें। इनमें से किसी भी काम को समाज की स्थिरता के लिए लाभकारी और फलस्वरूप उपयोगी नहीं माना जा सकता। बल्कि कम वेतन की वजह से भी प्रतिभाशाली युवाओं के लिए अध्यापन के प्रति आकर्षण कम हो जाता है। इसकी वजह से अच्छे अध्यापकों का अभाव पैदा होता है और हो सकता है हम आने वाले सालों के लिए एक भारी संकट के बीज बोने जा रहे हों। हमारे या किसी भी तरह के समाज के लिए यह उपयोगी बात नहीं है।

आइए एक और उदाहरण लें। स्कूल और उच्च शिक्षा संस्थानों में विज्ञान और तकनीक के प्रसार और विकास को एक ऐसे नए समाज के लिए उपयोगी माना जा सकता है जो अपने अस्तित्व के लिए तकनीक पर आश्रित होगा। मगर सभी समाजों को हमेशा ऐसे दार्शनिकों और चिंतकों की भी आवश्यकता होती है जो सामाजिक जीवन के स्वरूप पर विचार कर सकें। ये सामाजिक भूमिकाएं इसलिए महत्वपूर्ण होती हैं क्योंकि वही हैं जो समाज के नैतिक प्रश्नों पर

गौर करते हैं। यही वे लोग हैं जो इस सवाल पर विचार कर सकते हैं कि जीवन का अर्थ और उद्देश्य क्या है। वे इन सवालों के उत्तर देने के लिए प्रशिक्षित होते हैं। मगर आज के भारत की शिक्षा व्यवस्था में ज्ञान की इन धाराओं के लिए कोर्स ही बंद होते जा रहे हैं। बहुत सारे हायर सैकेंडरी स्कूलों में बच्चों को समाज विज्ञान लेने का विकल्प तक नहीं दिया जाता है। देश के भविष्य के लिए इस रुझान को कतई उपयोगी नहीं माना जा सकता। ऐसा भारत कैसा होगा जहां हमारे पास सुशिक्षित दार्शनिक, लेखक या इतिहासकार ही नहीं होंगे! इस तरह की शिक्षा व्यवस्था को आप पंगु या गैर-उपयोगी ही कहें तो बेहतर होगा।

वैकल्पिक फंक्शनलिस्ट पद्धतियां

फंक्शनलिस्ट सबसे पहले ये सवाल पूछते हैं कि एक खास तरह के समाज को किस तरह की जरूरत होती है। इस तरह के सवाल के कई किस्म के जवाब ढूंढे जा सकते हैं। फंक्शनलिस्टों की एक प्रचलित आलोचना ये है कि उनमें से बहुत सारे (सभी नहीं) एक आसान रास्ता ढूंढने की कोशिश करते हैं। वे कहते हैं कि जिसे कुछ शक्तिशाली लोग समाज की जरूरत का नाम देते हैं दरअसल वही उस समाज की आवश्यकता होती है। आज के तकनीकी-फंक्शनलिज्म के जमाने में इसका मतलब आमतौर पर ये होता है कि सिर्फ वही कौशल उपयोगी होते हैं जो बड़े-बड़े कॉर्पोरेशनों और कंपनियों को महत्वपूर्ण दिखाई पड़ते हैं। बेशक, ये कौशल महत्वपूर्ण जरूर हैं मगर उन कौशलों पर कोई जोर नहीं दिया जा रहा है जो दूसरे समाजिक समूहों के लिए महत्वपूर्ण हो सकते हैं। इसीलिए, ऐसे तकनीकी ज्ञान की शिक्षा पर कोई जोर नहीं दिया जा रहा है जो किसानों या ऐसे ही अन्य तबकों के लिए फायदेमंद हो सकती है।

भारतीय शिक्षा के इतिहास में हमारे पास एक ऐसे शैक्षिक प्रयोग का बढिया उदाहरण मौजूद है जिसने फंक्शनलिस्ट विश्लेषण को एक अलग दिशा दी थी। गांधीवादी नई तालीम की पद्धति आजादी से पहले सामने आई थी। यह चरम विपन्नता और कठिनाइयों का जमाना था। ब्रिटिश शिक्षा अपनी जड़ें जमा चुकी थी मगर अभी इसका प्रसार बहुत छोटे से तबके तक सीमित था। इसकी पाठ्यचर्या भी अधिकांशतः अंग्रेजों के दफ्तरों में काम करने के लिए लोगों को तैयार करने पर केंद्रित थी। यह शिक्षा लोगों में औपनिवेशिक शासकों और उनकी मूल्य-मान्यताओं के प्रति निष्ठा का पाठ सिखाती थी। यहां एक सामान्य फंक्शनलिस्ट समझ यह होगी कि इस शिक्षा संरचना को चुपचाप स्वीकार कर लिया जाए और यह सवाल पूछा जाए कि इसको सींचने और बनाए रखने के लिए किस तरह की शिक्षा बेहतर होगी। यह शिक्षा “फंक्शनल” शिक्षा मानी जाएगी। मगर गांधीवादी नई तालीम की धारा ने इस चौखटे को तोड़ दिया और एक बहुत अलग ढंग से सवाल ये उठाया कि लोगों के लिए क्या सर्वश्रेष्ठ होगा (कुमार 1993)। यह पद्धति मूल्यों के प्रश्नों से प्रस्थान करते हुए इस बात पर जोर देती थी कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद के मूल्य आधारभूत रूप से गलत हैं। इसका कारण ये था कि उपनिवेशवाद हिंसा, उत्पीड़न के पक्ष में और सत्यनिष्ठा के विरुद्ध था। इसके स्थान पर गांधीवादी नई तालीम व्यवस्था में एक नई, एक ऐसी शिक्षा का प्रयास किया गया जो लोगों को अंग्रेजों के खिलाफ खड़े होने और अहिंसा व सत्य के सिद्धांतों पर डटने के लिए प्रोत्साहित करे। इससे जो तकनीकी ज्ञान निकलता था वह ब्रिटिश तकनीक का ज्ञान नहीं था। इस ज्ञान का उद्देश्य ब्रिटिश कारखानों और मशीनों को चलाने के लिए इंजीनियर तैयार करना नहीं था। इसका मकसद था ऐसी तकनीक विकसित करना जिसको आम लोग इस्तेमाल कर सकें। इस व्यवस्था में ये कहा गया था कि पाठ्यचर्या में खेती और हस्तकौशल भी सिखाया जाएगा, बच्चों को अपने हाथों से चीजें बनाने के आसान तरीके सिखाए जाएंगे ताकि वे आम लोगों के इस्तेमाल की चीजें बना सकें। गांधीजी का मानना था कि इस तरह की शिक्षा के माध्यम से हम ब्रिटिश उपनिवेशवाद और शोषण का सख्त प्रतिरोध विकसित कर सकते हैं। गांधीवादी शिक्षा के बहुत सारे आयामों से हम असहमत हो सकते हैं और गांधी जी के बहुत सारे अनुयायी अपने शिक्षा कार्यों में बहुत कल्पनाशील या रचनात्मक भी न रहे हों फिर भी, यह प्रयोग इस आशय की एक बहुत रोचक और वैकल्पिक व्याख्या तो प्रदान करता ही है कि किसी समाज के लिए किस तरह की शिक्षा फंक्शनल यानी उपयोगी हो सकती है। यह प्रयोग इस बात को दर्शाता है कि मौजूदा सत्ता संरचना को आंख मूंदकर स्वीकार करने या न स्वीकार करने के आधार पर हम बहुत भिन्न समझ और रणनीतियों की तरफ पहुंच सकते हैं।

सत्ता हेतु संघर्ष शिक्षा के समाजशास्त्र और मानवशास्त्र में मौजूद एक और धारा की बहुत महत्वपूर्ण चिंता रही है।

मोटे तौर पर इम इसे शिक्षा की टकराव केंद्रित पद्धति कह सकते हैं जिसमें इस बात पर गौर किया जाता है कि किस प्रकार हमारी शिक्षा जबर्दस्त संघर्षों और टकरावों का मंच बन जाती है। इस धारा के अनुसार, शिक्षा व्यवस्था समाज के मुख्य संघर्षों को अभिव्यक्त करती है। वह समाज की कुछ आवाजों को दबाती है और कुछ दूसरे नैरेटिव्स को मुखर बना देती है। टकराव आधारित शिक्षा सिद्धांतों में तरह-तरह की सैद्धांतिक पोजीशन दिखाई पड़ती हैं। शृंखला के अगले लेख में हम इन्हीं पर विचार करेंगे। परंतु, इससे पहले, एक छोटी सी सलाह। टकराव सिद्धांत का उदय और फंक्शनलिज्म पर हमले, ये दोनों घटनाएं एक साथ घटी थीं। फंक्शनलिज्म को अकसर शक्तिशाली लोगों की बांदी कह कर उसका मजाक भी उड़ाया गया। हो सकता है यह बात कभी-कभार सही रही हो, मगर फंक्शनलिज्म को सिरे से खारिज कर देना अकलमंदी नहीं होगी। फंक्शनलिज्म बहुत सारी ऐसी महत्वपूर्ण अवधारणाएं और परिप्रेक्ष्य मुहैया कराता है जिनकी मार्फत हम आज की शिक्षा को समझ सकते हैं और कदम उठा सकते हैं। इसे एक महत्वपूर्ण मगर अधूरा सैद्धांतिक दृष्टिकोण कहना सबसे बढ़िया होगा। शिक्षा के समाजशास्त्र में टकराव सिद्धांत और दूसरी सैद्धांतिक पोजीशनों का अध्ययन शिक्षा की एक मुकम्मल तस्वीर हासिल करने के लिए लाजिमी है। ♦

लेखक परिचय: जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बेंगलूर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

संपर्क: amman.madan@apu.edu.in

संदर्भ और अतिरिक्त रीडिंग्स :

Agrawal, T. (2011). Returns to education in India: Some recent evidence (No. WP-2011-017). Mumbai: Indira Gandhi Institute of Development Research. Retrieved from <http://www.igidr.ac.in/pdf/publication/WP-2011-017.pdf>

Davis, K., & Moore, W. E. (1945). Some Principles of Stratification. *American Sociological Review*, 10(2), 242-249.

Kumar, K. (1993). Mohandas Karamchand Gandhi. *Prospects: The Quarterly Review of Education*, 23(3/4), 507-17.

Merton, R. K. (1968). Manifest and latent functions: toward the codification of functional analysis in sociology. In *Social theory and social structure* (2nd ed., pp. 72-138). New York: Free Press.

Psacharopoulos, G., & Patrinos, H. A. (2004). Returns to investment in education: a further update. *Education Economics*, 12(2), 111-134.

Tumin, M. M. (1953). Some Principles of Stratification: A Critical Analysis. *American Sociological Review*, 18(4), 387-394